International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN :2581-9925, Impact Factor: 7.555, Volume 07, No. 02(III), April- June, 2025, pp. 01-06

शांतरक्षित व रत्नकीर्ति के अपोह सिद्धांत की भारतीय ज्ञानमीमांसा में प्रासंगिकता

भीम शंकर मीना*

शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान।

*Corresponding Author: iambheemshankar18@gmail.com

सार

अपोहवाद के अनुसार, शब्द का अर्थ किसी वस्तु की सकारात्मक उपस्थिति से नहीं, बल्कि उससे भिन्न वस्तुओं के निषेध से निश्चित होता है। जैसे 'गौः' शब्द का अर्थ किसी सार्वभौमिक 'गायत्त्व' से नहीं, बल्कि 'अ–गौ' (घट, वृक्ष, अश्व आदि) के निषेध से उत्पन्न होता है। यह विचार परंपरागत जातिवाद या वस्तुनिष्ठ अर्थ–सत्ता के सिद्धांत से भिन्न है, और इसे बौद्ध चिन्तन में सापेक्षता, क्षणिकत्व, तथा निर्वचनातीतता जैसे सिद्धांतों के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। शांतरक्षित, जो माध्यमिक और योगाचार दर्शन के समन्वयक माने जाते हैं, ने अपोहवाद को व्यवहार की दृष्टि से सम्वृति–सत्य के रूप में स्थापित किया। उन्होंने स्वीकार किया कि शब्द व्यवहार को संभव बनाते हैं, पर वे परमार्थ में कोई अन्तर्निहित सत्ता नहीं दर्शाते। उनके ग्रंथ तत्त्वसङ्ग्रह में अपोह की तात्त्विक और तार्किक विवेचना गहराई से की गई है। वहीं रत्नकीर्ति, जो उत्तरवर्ती बौद्ध तर्कशास्त्र के अत्यन्त प्रभावशाली आचार्य रहे, ने अपोह को भाषा के एकमात्र यथार्थ आधार के रूप में प्रस्तुत किया और जातियों, सामान्यताओं व नित्यत्व की धाराओं का दृढ़ प्रतिवाद किया। शोध में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि अपोहवाद केवल एक भाषिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि यह ज्ञान–उत्पत्ति, अर्थ–निर्धारण और सत्यता के मापदंडों को भी पुनःपरिभाषित करता है। यह दृष्टिकोण आधुनिक चिन्तन प्रवृत्तियों जैसे संरचनावाद, प्रत्ययवाद, और डेरिडा के विघटन (Deconstruction) सिद्धांत से भी मेल खाता है। लेख में यह दर्शाया गया है कि जहाँ शांतरक्षित समन्वयवादी थे और अपोह को व्यवहार की सीमा तक मान्यता देते थे, वहीं रत्नकीर्ति विशुद्ध तार्किक थे और उन्होंने नकारात्मक परिभाषा को ही ज्ञान का मूल आधार माना। दोनों का समन्वय बौद्ध तर्कशास्त्र को उतर– यथार्थवादी (Post & Realist) विमर्श की दिशा में अग्रसर करता है।

शब्दकोशः *अपोहवाद, शांतरक्षित, रत्नकीर्ति, शब्द–अर्थ–संबंध, भाषा–दर्शन, बौद्ध ज्ञानमीमांसा, तात्त्विक निषेध, सम्वृति–सत्य, जाति–निषेध।*

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञानमीमांसा का इतिहास शब्द–ज्ञान–वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध की खोज की कथा है। वेद–मीमांसा से लेकर उत्तर आधुनिक विमर्शों तक बार–बार यह प्रश्न पूछा गया है– शब्द कहाँ से अर्थ ग्रहण करता है और ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? बौद्ध परम्परा ने इस प्रश्न का सर्वथा मौलिक समाधान प्रस्तुत किया– अपोहवाद। पाँचवीं–सातवीं शती के दिङ्नाग–धर्मकीर्ति द्वारा प्रतिपादित और बाद में शांतरक्षित (8वीं शताब्दी) तथा रत्नकीर्ति (11वीं शताब्दी) द्वारा दार्शनिक दृढ़ता से विस्तारित यह सिद्धांत कहता है कि शब्द का अर्थ उसके निषेधात्मक संकेत से उत्पन्न होता है, न कि किसी स्वभावतः विद्यमान जाति अथवा पदार्थ से।

यह अध्ययन चार प्रश्नों पर केन्द्रित है– (1) अपोहवाद में शब्द-अर्थ सम्बन्ध क्यों महत्त्वपूर्ण है; (2) यह सिद्धांत बौद्ध भाषा-दर्शन को किस नवीन आयाम से सम्पन्न करता है; (3) बौद्ध न्याय-मीमांसा में भाषा-दर्शन का

क्रमिक उद्भव; तथा (4) शांतरक्षित व रत्नकीर्ति की अपोह-चिन्तन परम्परा का तुलनात्मक मूल्यांकन। इन चारों के समेकन के पश्चात् अपोह की समकालीन उपयोगिता, संभाव्य आलोचनाएँ और व्यापक भारतीय दार्शनिक धरातल पर इसका स्थान रेखांकित किया गया है।

अपोहवाद में शब्द–अर्थ संबंध का महत्व

भारतीय भाषा–दर्शन में शब्दार्थ–संबंध की समस्या अत्यंत प्राचीन है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, व्याकरण और बौद्ध परंपराओं ने इस पर भिन्न–भिन्न मत प्रस्तुत किए। इनमें बौद्ध परंपरा का अपोहवाद शब्दार्थ–संबंध की एक नवीन और विश्लेषणात्मक व्याख्या देता है, जो परंपरागत सामान्यता (जाति) और शब्दार्थ के सकारात्मक बोध को नकारते हुए, निषेध के माध्यम से अर्थ–निर्धारण को प्रस्थापित करता है।

'अपोह' का शाब्दिक अर्थ है– निषेधात्मक तर्कणा, हटाना, दूर करना, विरोपण इत्यादि से है। इस सिद्धांत के अनुसार, किसी शब्द का अर्थ उसके द्वारा अभिधेय वस्तु नहीं, बल्कि उस वस्तु की विरोधी वस्तुओं का निषेध होता है। उदाहरणस्वरूप, "गौः" शब्द किसी "गाय" नामक सार्वभौमिक सत्ता की सूचना नहीं देता, बल्कि "गैर–गाय" वस्तुओं का निषेध करके गाय को इंगित करता है। इसे ही 'अन्यापोह' कहा गया है अर्थात 'अन्य' का 'अपोह'।

यह दृष्टिकोण परंपरागत अभिधा–सिद्धांत के विपरीत है, जहाँ माना जाता है कि शब्द किसी जाति या वस्तु को प्रत्यक्षतः बोध कराते हैं। बौद्ध चिंतक दिङ्नाग ने सबसे पहले अपोह सिद्धांत का मूल रूप प्रस्तावित किया, जिसे धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष, कल्पना–ज्ञान आदि के माध्यम से और सशक्त किया।

परंतु अपोहवाद का तार्किक परिष्कार हमें रत्नकीर्ति और शांतरक्षित के विचारों में मिलता है। रत्नकीर्ति का मत है कि– "शब्द न वस्तु का प्रत्यक्ष द्योतक है, न उसमें कोई सार्वभौम तत्व छिपा हैय वह तो केवल उसकी विरोधी वस्तुओं का विरोपण कर अर्थ बोध कराता है।" (त्मक्ïि ग्ए ठींजजबींतलंए ष्ज्जदांपतजप वद ।चवींष्ए प्दकपंद चैपसवेवचीपबंस फनंतजमतसलए 2002)

इस प्रकार, शब्द और अर्थ के बीच कोई स्थायी, यथार्थ या दैविक संबंध नहीं होता, जैसा कि मीमांसा में प्रतिपादित है। बल्कि वह एक तर्क–निर्भर सामाजिक व्यवहार है। यह व्यवहार संकेत पर आधारित है, जिसका विश्लेषण अपोह की पद्धति से ही संभव है।

यह सिद्धांत न केवल भाषा के कार्य–प्रणाली को गहराई से उद्घाटित करता है, बल्कि ज्ञानमीमांसा के लिए भी एक महत्वपूर्ण प्रतिमान प्रस्तुत करता है। शब्द केवल अर्थ नहीं बोध कराते, वे विरोध से संज्ञान कराते हैं– यह धारणा आधुनिक संरचनावाद ";जतनबजनतंसपेउ) की भाषा–समीक्षा के भी निकट है।

अतः अपोहवाद हमें यह सिखाता है कि शब्द का अर्थ वस्तुगत नहीं, सापेक्ष निषेधात्मक बोध है। यह विचार न केवल दर्शन, अपितु संज्ञान, भाषा–विज्ञान और तार्किक विमर्श में भी उपयोगी है।

बौद्ध न्याय–मीमांसा में भाषा–दर्शन का उद्भव व विकास

बौद्ध न्याय–मीमांसा, एक ऐसी प्रणाली है जिसमें अनुभव, प्रमाण और तार्किक विश्लेषण के आधार पर ज्ञान की स्वीकृति होती है। इस प्रणाली में भाषा न केवल संप्रेषण का माध्यम है, बल्कि ज्ञान की सृष्टि और सत्य की अवधारणा का भी उपकरण बनती है। प्रारंभिक बौद्ध विचार में भाषा की भूमिका नैतिक थी, किंतु दिङ्नाग (5वीं सदी) से लेकर रत्नकीर्ति (11वीं सदी) तक भाषा–दर्शन को साक्षात ज्ञानमीमांसा का साधन मान लिया गया।

दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण माना और शब्द को कल्पना–प्रधान बोध का कारक कहा। उनके अनुसार, शब्द वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि संकेत द्वारा उसका बोध कराता है। धर्मकीर्ति ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया और स्पष्ट किया कि शब्द कल्पना का उत्पाद है– उसका यथार्थ से सीधा संबंध नहीं।

यह विकास तब और गहरा होता है जब शांतरक्षित भाषा को ज्ञान के अनिवार्य संदर्भ के रूप में देखते हैं। वे 'तत्त्वसंग्रह' में यह घोषित करते हैं कि– "शब्द वस्तु का संकेत नहीं करता, वह केवल व्यवहार की दृष्टि से अर्थ प्रदान करता है। वस्तु केवल प्रत्यक्ष में जानी जाती है; भाषा केवल उसकी छाया है।"

रत्नकीर्ति, अपोह–सिद्धि और अनुपलब्धि–सिद्धि में शब्द को निषेधात्मक संकेत मानते हैं और यह तर्क देते हैं कि– "शब्द का अर्थ कोई सार्वभौम 'जाति' नहीं, बल्कि विरोधी वस्तुओं का निषेध है।" यह दृष्टिकोण न्याय–मीमांसा की उस धारणा का खंडन करता है, जिसमें शब्द 'जाति' का बोध कराता है।

इस विकास–क्रम में अपोहवाद, बौद्ध न्याय–मीमांसा का सर्वोच्च बौद्धिक अवदान है। यह सिद्धांत बताता है कि भाषा में निरपेक्ष बोध असंभव है– ज्ञान एक व्यवहारजन्य प्रक्रिया है, जो कि 'अपवर्जन' के माध्यम से कार्य करती है।

इस परिप्रेक्ष्य में बौद्ध न्याय–मीमांसा का भाषा–दर्शन न केवल दार्शनिक विमर्श को पुनः परिभाषित करता है, बल्कि वह संज्ञान–प्रक्रिया, व्यवहार और यथार्थ के मध्य एक नये प्रकार का संवाद स्थापित करता है। यह संवाद आधुनिक ैमउपवजपबेए म्चपेजमउवसवहल और चैमदवउमदवसवहल की सोच के भी निकट है।

रत्नकीर्ति व शांतरक्षित के मतों के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध भाषा–दर्शन

शांतरक्षित और रत्नकीर्ति, बौद्ध तर्कशास्त्र और भाषा–दर्शन के ऐसे स्तंभ हैं जिन्होंने अपोहवाद के माध्यम से भारतीय ज्ञानमीमांसा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन की भूमिका निभाई। इन दोनों आचार्यों ने शब्द–अर्थ के संबंध को पारंपरिक 'जातिवादी' दृष्टिकोण से अलग हटकर एक विश्लेषणात्मक और नकारात्मक ढांचे में प्रस्तुत किया।

शांतरक्षित, अपने ग्रंथ तत्त्वसंग्रह में, भाषा को व्यवहारात्मक, व्युत्पत्तिपरक और निषेधाधारित मानते हैं। वे कहते हैं कि– "शब्द का अर्थ वस्तुगत नहीं, बौद्धिक– व्यवहारजन्य है।" उनके अनुसार, ज्ञान केवल प्रत्यक्ष है; शेष सभी ज्ञानरूप– जैसे शब्द, अनुमान, उपमान–केवल समीकरणात्मक उपलक्षणाएं हैं।

रत्नकीर्ति इससे भी आगे जाकर, अपोह–सिद्धि में यह प्रतिपादन करते हैं कि– "शब्द किसी जाति का द्योतक नहीं, क्योंकि जाति जैसी सार्वभौम सत्ता का अस्तित्व ही नहीं है। अतः शब्द केवल अन्य वस्तुओं के निषेध से अर्थ–बोध कराता है।

शांतरक्षित की भाषा–दृष्टि

संक्षिप्त परिचय

शांतरक्षित (8वीं शताब्दी) ने तत्त्वसंग्रह और उसकी पञ्जिका में बौद्ध तर्क–मीमांसा को विकसित किया। वे योगाचार–स्वतंत्र माध्यमिक परंपरा के प्रवर्तक माने जाते हैं।

तत्त्वसंग्रह में भाषा की विवेचना

तत्त्वसंग्रह में शांतरक्षित ने नैयायिकों, सांख्यकारों और मीमांसकों की भाषा–दृष्टियों की समालोचना करते हुए यह प्रतिपादित किया कि–

शब्दों का अर्थ स्वाभाविक या नित्य नहीं होता।

शब्द व्यवहार और परंपरा से अर्थ ग्रहण करते हैं।

शब्द कल्पनात्मक वस्तुओं को सूचित करते हैं, न कि प्रत्यक्ष वस्तु को।

शब्द, ज्ञान और तर्क–

शांतरक्षित का तर्क है कि शब्दों से उत्पन्न ज्ञान विकल्पना जन्य (बवदबमचजनंस) होता है। यह ज्ञान कभी भी निर्विकल्प, प्रत्यक्ष या यथार्थ नहीं होता।

"शब्दादप्यज्ञानं कल्पितं केवलं, न तु यथार्थवस्तुनि।"

रत्नकीर्ति की भाषा–दृष्टि

रत्नकीर्ति (11वीं सदी) विक्रमशिला के बौद्ध तर्कशास्त्री थे। उन्होंने शब्द, अर्थ, ज्ञान और तर्क की प्रक्रियाओं को तार्किक स्पष्टता और ज्ञानमीमांसात्मक गहराई से प्रस्तुत किया।

- **अपोहसिद्धि का रूपांतरण**

रत्नकीर्ति के अनुसार शब्द का अर्थ उस वस्तु का निषेध है जो वह नहीं है। यह निषेध दो प्रकार का होता है–

स्वार्थ–अपोह– अर्थ स्वयं को अन्य सभी अर्थों से पृथक करता है।

परार्थ–अपोह– अन्य वस्तुओं का निषेध करके अर्थ को परिभाषित किया जाता है।

- **ज्ञान और भाषा**

रत्नकीर्ति मानते हैं कि शब्द का अर्थ किसी बाह्य वस्तु का बोध नहीं कराता, बल्कि यह केवल मानसिक संकल्पनाओं (बवदबमचजनंस बवदेजतनबजे) का निर्माण करता है।

- **संज्ञा और संविद्**

उन्होंने "संवेदन" और "संविद्" के बीच अंतर स्थापित किया। भाषा केवल संविद् को जन्म देती है, जो कल्पित और सामान्य होती है।

- **तुलनात्मक रूपरेखा**

विचार-बिन्दु	शांतरक्षित	रत्नकीर्ति
दर्शन-भूमि	माध्यमिक + योगाचार का समन्वय	सुदृढ़ विग्रह-वादिता, तर्कविशारद
शब्द-अर्थ सिद्धि	अपोह व्यवहार का मूल साधन	अपोह ही एकमात्र अर्थ-नियामक
ज्ञान-सिद्धान्त	द्विसत्य-परम्परा (सम्वृति–परमार्थ)	क्षणिकत्व-यथार्थ, परमार्थ अनिर्वचनीय
आलोचना-केन्द्र	जाति-वाद, ईश्वर-वाद	सामान्यत्व, तर्क–बाह्य प्रतीकवाद

- **शांतरक्षित की समृद्धि**

शांतरक्षित के तत्त्वसङ्ग्रह यमें वे न्याय-मीमांसक एवं वेदान्तिन दोनों का प्रतिवाद करते हैं। उनका प्रतिपादित सूत्र– **"अन्यापोहेन शब्दार्थसिद्धिः"** कृसम्वृति-सत्य का दार्शनिक घोष है। वे भाषा को भक्तिपूर्वक नहीं, साक्षर तर्कसाध्य व्यवहार मानते हैं।

- **रत्नकीर्ति की तार्किकता**

रत्नकीर्ति की चिन्तनधारा अधिक विश्लेषणात्मक (।दंसलजपब) है। **"नो जातिः क्वचनास्ति"**– यह उद्घोष दिखाता है कि वे नाम–रूप के किसी भी सार्वभौम को अस्वीकारते हैं। 'गौ' शब्द का प्रयोग इसलिए संभव है कि 'अ-गौ' वस्तुओं का अनन्त समूह व्यावहारिक रूप से निष्कासित कर दिया गया है।

शांतरक्षित और रत्नकीर्ति दोनों ने यह प्रतिपादित किया कि भाषा न तो यथार्थ का सटीक प्रतिनिधित्व कर सकती है, न ही ज्ञान का पूर्ण साधन बन सकती है। अपोह–सिद्धांत के माध्यम से उन्होंने यह सिद्ध किया कि शब्द केवल अन्य वस्तुओं का निषेध कर किसी अर्थ की ओर संकेत करता है।

शांतरक्षित ने इस सिद्धांत को प्रतिपक्षियों की आलोचना में प्रयोग किया, जबकि रत्नकीर्ति ने इसे तार्किकता, संवेदन और अनुभवजन्यता के स्तर पर विकसित किया। उनकी–दृष्टि आज भी भाषा–दर्शन और ज्ञानमीमांसा की जटिल समस्याओं को समझने में मार्गदर्शक सिद्ध होती है।

बौद्ध भाषा–दर्शन की एक नवीन व्याख्या हमें अपोहवाद में किस प्रकार दिखलाई देती है

बौद्ध भाषा–दर्शन की बुनियाद अनुभव, वैराग्य और यथार्थ की प्रकृति के विश्लेषण पर आधारित है। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य (त्रिपिटक आदि) में भाषा का प्रयोग उपदेशात्मक और नैतिक है, किंतु दिङ्नाग–धर्मकीर्ति की परंपरा में भाषा–दर्शन विशुद्ध तार्किक एवं ज्ञानमीमांसीय विमर्श में बदल जाता है। इस दृष्टिकोण की पराकाष्ठा हमें अपोहवाद के रूप में मिलती है।

अपोहवाद, भाषा के अर्थ–निर्धारण की ऐसी सिद्धि है जो 'वस्तुगत' अर्थ को खंडित कर, 'सापेक्ष निषेधात्मक' अर्थ की स्थापना करता है। यह भारतीय दर्शन की उस परंपरा को चुनौती देता है जो शब्दों को नित्य, स्वभावतः अर्थबोधक मानती है। अपोहवाद के अनुसार, सभी शब्द कल्पनात्मक संघटनाएं हैं, जो वस्तु नहीं, बल्कि उसकी अन्यता का निषेध करती हैं।

इस सिद्धांत की नवीनता इस बात में है कि यह शब्द और अर्थ के संबंध को मूलतः भाषिक संकेत मानता है, न कि वस्तु–प्रतिनिधित्व। यह विचारधारा हमें आधुनिक भाषाशास्त्रियों जैसे थ्मतकपदंदक कम ैंनेनतम के संकेत–प्रणाली (ेपहदं.पहदपपिमतं.पहदपपिमक) की याद दिलाती है।

शांतरक्षित, तत्त्वसंग्रह में यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान वस्तुगत नहीं, कल्पना–प्रवण और भाषिक–संरचनात्मक होता है। उनके अनुसार, "ज्ञान का मूल उद्देश्य वस्तु की अनुभूति नहीं, उसकी विरोधात्मक स्थिति का अवबोधन है।" इसीलिए भाषा–दर्शन को उन्होंने बौद्ध न्याय–मीमांसा (मचपेजमउवसवहल) में केंद्रीय स्थान दिया।

रत्नकीर्ति अपने ग्रंथों (।चवीँ.पककीपए ज्ञṣṇंईंṅहे.पककीप) में यह प्रमाणित करते हैं कि भाषा न केवल व्यवहार का उपकरण है, बल्कि संसार के मिथ्यात्व को भी प्रकट करती है। उनके अनुसार, "सभी शब्द केवल विरोपण हैं; कोई भी सार्वभौम वस्तु शब्द से बोध नहीं की जा सकती।"

अपोहवाद की यह व्याख्या केवल भाषा तक सीमित नहीं रहतीय यह बोध प्रक्रिया, संज्ञान की अपेक्षिकता, और तत्वमूलक निरपेक्षता की ओर संकेत करती है। यह सिद्धांत बताता है कि बोध– किसी वस्तु का नहीं, बल्कि अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता का बोध है। इस प्रकार, अपोहवाद प्रत्यक्षानुभव, संज्ञान और व्यवहार के बीच एक गहरा संवाद स्थापित करता है।

इस नवीन दृष्टिकोण ने भारतीय ज्ञानमीमांसा में यह क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किया कि– ज्ञान का हर पहलू भाषा–निर्भर है, और भाषा वस्तुगत नहीं, निषेधात्मक है। यही विचार आज के उत्तर–संरचनावाद, उत्तर–आधुनिक विमर्शों से मेल खाता है।

समेकित निष्कर्ष एवं आलोचनात्मक टिप्पणी

अपोहवाद की सार्थकता आज भी बहुस्तरीय है–

- भाषा-विज्ञान– संरचनावाद, द्योतक–द्योतित (signifier-signified) और डेरिडा के कपििंतदबम सिद्धान्त में 'अन्यता का अंतर' जैसा प्रतिपादन अपोह स्वरूप प्रतीत होता है।
- वेस्टर्न लॉजिक– नेगेटिव सेट थ्योरी में वर्ग को उसके कॉम्प्लिमेंट से परिभाषित करने की प्रवृत्ति अपरिहार्य है।
- चिन्तन-मनोविज्ञान– धारणा-निर्माण में प्रोटोटाइप के बजाय एक्सक्लूजन-जोन उपयोगी सिद्ध होता है– यही अपोह है।

आलोचनाएँ

- निषेध– नितान्त नकारात्मक परिभाषा व्यवहार दृष्ट्या जटिल हो सकती है, विशेषतः समान्तर वस्तुगत निजता की पहचान में।

- श्रुतिप्रामाण्य– वैदिक मीमांसक आपत्ति करते हैं कि मन्त्र वाक्य का अर्थ निषेध से नहीं, अभिधान से प्रस्फुटित होता है।
- भाषिक सापेक्षता– यदि अर्थ का आधार निषेध है तो विभिन्न भाषा-समुदायों में एक ही शब्द के 'कॉम्प्लिमेंट सेट' समान नहीं होंगे–तब सार्वजनिक संवाद दुष्कर होगा।

अंततः यह आलेख यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि शांतरक्षित की सम्वृति-सत्य एवं रत्नकीर्ति की क्षणिकत्व-कथन से संयुक्त अपोहवाद भारतीय दार्शनिक साधना को अतीन्द्रिय प्रतीकतन्त्र से मुक्त कर व्यावहारिक-तर्कसम्मत मार्ग दिखाता है। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में यह सिद्धांत 'अन्यता के अपवर्जन' को ज्ञान-सिद्धि का आधार बताकर सकारात्मक और यथार्थ दोनों धाराओं को तुलनात्मक समीक्षा हेतु बाध्य करता है। अपोहवाद, विशेषकर शांतरक्षित व रत्नकीर्ति के योगदान के साथ, भारतीय ज्ञानमीमांसा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लेकर आया। यह सिद्धांत आधुनिक चिन्तन की भाषा–निरपेक्षता, अर्थ–सापेक्षता, और ज्ञान–निरूपण के प्रश्नों को समझने में एक सशक्त उपकरण सिद्ध होता है। साथ ही यह पारंपरिक भारतीय दार्शनिकता में आलोचनात्मक और सृजनात्मक दोनों दृष्टियों को समाहित करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दिङ्नाग– प्रमाण-समुच्चय (टीका : वींतउवजजंतं)
2. धर्मकीर्ति– प्रमाणवर्त्तिक (स्वार्थानुमानपाद), न्यायबिन्दु
3. शांतरक्षित– तत्त्वसङ्ग्रह (टीका : कमलशील-पञ्जिका)
4. रत्नकीर्ति– अपोह-सिद्धि, क्षणभङ्ग-सिद्धि, अनुपलब्धि-सिद्धि
5. R. Bhattacharya (2002), “Ratnakīrti on Apoha”, Indian Philosophical Quarterly.
6. T. Stcherbatsky (1932), The Central Conception of Buddhism and the Meaning of the Word ‘Dharma’.
7. B.K. Matilal (1990), Perception: An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge.
8. J.N. Mohanty (2000), Classical Indian Philosophy.
9. Mark Siderits (2018), How Things Are: An Introduction to Buddhist Metaphysics-

❖◆❖